eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

आचार्य शुक्र के आर्थिक विचारों का अध्ययन

डॉ0 अशोक कुमार[1]
[1]एसोसिएट प्रोफेसर–अर्थशास्त्र, राजकीय महिला महाविद्यालय मिश्रिख, सीतापुर, उ0प्र0, भारत

Received: 21 July 2026 Accepted & Reviewed: 25 October 2026, Published: 31 October 2026

Abstract

भारतीय आर्थिक चिंतन की समृद्ध परंपरा में आचार्य शुक्र का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके आर्थिक विचार मुख्यतः शुक्रनीति में निहित हैं, जिसमें राज्य–प्रशासन, राजस्व–व्यवस्था, भूमि–मापन, कराधान, आय–व्यय, लेखांकन, धन–संचय, मूल्य–निर्धारण, व्यापार, श्रम–मजदूरी तथा दान जैसे आर्थिक विषयों का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य शुक्रनीति में वर्णित प्रमुख आर्थिक विचारों का व्यवस्थित अध्ययन करते हुए भारतीय आर्थिक चिंतन में आचार्य शुक्र के योगदान को रेखांकित करना है। आचार्य शुक्र ने भूमि के मापन और वर्गीकरण को राजस्व–निर्धारण से जोड़ा तथा राज्य के विभिन्न विभागों के संचालन के लिए योग्य, कुशल और उत्तरदायी अधिकारियों की नियुक्ति पर बल दिया। उन्होंने राजकीय आय एवं व्यय के व्यवस्थित अभिलेखन, लिखित आदेशों, वित्तीय पारदर्शिता और लेन–देन के प्रमाणिक दस्तावेजों की आवश्यकता को भी महत्त्व दिया। उनके विचारों में धनार्जन के साथ–साथ धन की सुरक्षा, विवेकपूर्ण व्यय, श्रम के अनुरूप पारिश्रमिक, व्यापारिक व्यवहार में सावधानी और सामाजिक उत्तरदायित्व का भी स्थान है। इस प्रकार, आचार्य शुक्र का आर्थिक चिंतन केवल राजकोषीय प्रबंधन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह आर्थिक व्यवहार, प्रशासनिक दक्षता और नैतिक मूल्यों को भी समाहित करता है। प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शुक्रनीति में वर्णित अनेक विचार प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन की व्यावहारिक प्रकृति को समझने में सहायक हैं। इन विचारों की समकालीन उपयोगिता का आकलन उनके ऐतिहासिक संदर्भ और आधुनिक आर्थिक संस्थाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

मुख्य शब्द– राजस्व व्यवस्था, कराधान, भूमि–मापन, आय–व्यय, वित्तीय प्रबंधन, लेखांकन, धन–संचय, चुंगी, मूल्य–निर्धारण, श्रम, मजदूरी, व्यापारिक व्यवहार।

Introduction

भारतीय आर्थिक चिंतन की परंपरा अत्यंत प्राचीन और बहुआयामी रही है। इस परंपरा में आर्थिक गतिविधियों को केवल धन के अर्जन और उपभोग तक सीमित नहीं माना गया, बल्कि उन्हें राज्य–व्यवस्था, सामाजिक जीवन, नैतिक आचरण तथा लोककल्याण से भी जोड़कर देखा गया। प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजस्व–संग्रह, कृषि, व्यापार, श्रम, धन–प्रबंधन और प्रशासन जैसे विषयों पर विचार प्रस्तुत किए। इसी परंपरा में आचार्य शुक्र का आर्थिक चिंतन विशेष महत्त्व रखता है। आचार्य शुक्र के आर्थिक विचार मुख्यतः उनके नीतिग्रंथ शुक्रनीति में विभिन्न प्रसंगों के अंतर्गत मिलते हैं। यद्यपि आर्थिक विषयों पर उनका विवेचन किसी पृथक अर्थशास्त्रीय ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत नहीं है, तथापि शुक्रनीति में वर्णित अनेक सिद्धांत आर्थिक जीवन और राजकीय वित्त के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भूमि के मापन और वर्गीकरण, कराधान, राजकीय आय के स्रोत, व्यय की प्रकृति, लेखांकन, धन की सुरक्षा, मूल्य तथा मजदूरी जैसे विषय शामिल हैं। इन विचारों का अध्ययन प्राचीन भारत में आर्थिक गतिविधियों की समझ और प्रशासनिक व्यवस्थाओं के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायता करता है। आचार्य शुक्र ने राज्य की वित्तीय व्यवस्था के संचालन में सुव्यवस्थित अभिलेखों और लिखित आदेशों को महत्त्व दिया। उनके अनुसार, राजकीय कार्यों

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

तथा आर्थिक लेन–देन का लिखित विवरण रखने से भ्रम और विवाद की संभावना कम होती है। आय और व्यय का स्पष्ट लेखा रखने से उपलब्ध संसाधनों, किए गए खर्च तथा शेष धन का आकलन किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण वित्तीय अनुशासन और प्रशासनिक उत्तरदायित्व के महत्त्व को रेखांकित करता है। भूमि और कराधान के संदर्भ में आचार्य शुक्र ने भूमि के मापन तथा विभिन्न इकाइयों के निर्धारण का उल्लेख किया है। भूमि का व्यवस्थित मापन राजस्व–निर्धारण और प्रशासनिक सुविधा से संबंधित था। इसी प्रकार, कर–संग्रह करने वाले अधिकारियों के गुणों का वर्णन करते हुए उन्होंने ऐसे व्यवहार की अपेक्षा की, जिसमें राज्य की आय प्राप्त करने के साथ–साथ प्रजा के जीवन और आजीविका की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखा जाए। उनके विचारों में राजस्व–संग्रह की प्रक्रिया, अधिकारियों की योग्यता तथा प्रशासनिक दक्षता पर विशेष बल दिखाई देता है।

आचार्य शुक्र का आर्थिक चिंतन आय और व्यय की अवधारणाओं को भी स्पष्ट करता है। उन्होंने आय के विभिन्न स्रोतों तथा व्यय की अलग–अलग श्रेणियों का उल्लेख किया है। इसके साथ ही, व्यापारिक लेन–देन में लिखित प्रमाण, ऋण संबंधी व्यवहार में सावधानी और धन की सुरक्षा को महत्त्व दिया गया है। मजदूरी के संदर्भ में कार्य की मात्रा, समय तथा कार्य और समय के संयुक्त आधार पर पारिश्रमिक निर्धारित करने की अवधारणाएँ मिलती हैं। ये विवरण उस समय के आर्थिक व्यवहार और श्रम–संबंधों की प्रकृति को समझने में सहायक हैं। धन के विषय में आचार्य शुक्र का दृष्टिकोण केवल संचय तक सीमित नहीं है। वे धनार्जन, धन–सुरक्षा, विवेकपूर्ण व्यय और दान के विभिन्न पक्षों पर विचार करते हैं। वे विद्या को भी महत्त्वपूर्ण संपदा के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा धन के उपयोग में विवेक और सामाजिक उत्तरदायित्व की आवश्यकता पर बल देते हैं। इससे उनके आर्थिक चिंतन में भौतिक संसाधनों के साथ ज्ञान, नैतिकता और सामाजिक संबंधों का महत्त्व भी स्पष्ट होता है। प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य शुक्रनीति में निहित इन आर्थिक विचारों का क्रमबद्ध विश्लेषण करना और भारतीय आर्थिक विचारधारा में आचार्य शुक्र के योगदान को रेखांकित करना है। अध्ययन में विशेष रूप से भूमि एवं कर–व्यवस्था, राजकीय आय–व्यय, लेखांकन, धन–संचय, मूल्य, मजदूरी, व्यापार और दान से संबंधित विचारों पर ध्यान केंद्रित किया गया है। इसके लिए उपलब्ध पाठ में वर्णित विचारों और श्लोकों का विषयगत अध्ययन किया गया है। साथ ही, इन विचारों की वर्तमान प्रासंगिकता पर विचार करते समय उनके ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस प्रकार, आचार्य शुक्र के आर्थिक विचारों का अध्ययन भारतीय आर्थिक चिंतन की परंपरा को समझने और उसके विविध आयामों को सामने लाने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

आचार्य शुक्र ने शासन की सुविधा की दृष्टि से भूमि के अनेक मापकों का विस्तार से वर्णन किया है जिनका विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है–

आचार्य शुक्र ने मालगुजारी के निर्धारण में सुविधा के लिए भूमि के मानभेदों को निर्देशित किया है। आचार्य शुक्र के अनुसार ग्राम 1 क्रोष वर्ग का होता है और उसकी मालगुजारी 1000 रजत मुद्रा होती है। ग्राम का आधा प्रमाण 'पल्ली' होता है और पल्ली का आधा प्रमाण 'कुम्भ' होता है।

करैः पंचसहस्रैर्वा क्रोषः प्रोक्तः प्रजापतेः।

हस्तैश्रवतुःसहस्रैर्वा मनोः क्रोषस्य विस्तरः।।164।।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

पांच हजार हाथों का प्रजापति–संबंधी 'क्रोष' होता है और चार हजार हाथों का विस्तार मनु–संबंधी क्रोष होता है।

सार्ध द्विकोटिहस्तैश्रव क्षेत्रं क्रोषस्य ब्रह्मणः।

पंचविषषतैः प्रोक्तं क्षेत्रं तद्विनिवर्तनैः।।165।।

ढाई करोड़ हाथों का ब्रह्म का क्षेत्र होता है और उसके पच्चीस सौ विनिवर्त्तनों से क्षेत्र बनता है।

मध्यमामध्यमपर्वदैर्ध्यं यच्चतुरंगुलम।

यत्रोदरैरष्ठभिस्तु दैर्ध्यं स्थौल्यं तु पंचभिः।।166।।

मध्यमा अंगुली के मध्यम पर्व की भांति लम्बाई 1 अंगुल की होती है और 8 जौ के उदर के समान लम्बाई तथा पांच जौ के उदर की भांति मुटाई 1 अंगुल की होती है।

चतुर्विंषत्यंगुलैस्तैः प्रजापत्यः करः स्मृतः।

स श्रेष्ठो भूमिमाने तु तदन्यास्त्वधमा मताः।।167।।

वैसी 24 अंगुलियों का 1 प्राजापत्य कर/हाथ होता है और भूमि के नापने में यही श्रेष्ठ होता है, इसमें अन्य सभी अधम कहलाते हैं।

आचार्य शुक्र ने राजा को भूमि पर कर कैसे और कितनी मात्रा में लगाना चाहिए इसका भी निदर्शन अपने ग्रंथ शुक्रनीति में किया है, जिनका विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है–

शुक्र के अनुसार राजा को सभी प्रकार की भूमि पर कर लगा देना चाहिए, दो अंगुल भूमि भी बिना कर के नहीं छोड़नी चाहिए। जितने से लोग अपनी जीविका चला सकें उतनी भूमि उसे दे देनी चाहिए।

न दद्याद् द्व–अंगुल्मपि भूमेः स्वत्वनिवर्तकम।

वृत्त्यर्थं कल्पयेद्वापि यावद्ग्राहस्तु जीर्वात।।

शुक्र ने राज्य में विभिन्न कार्यों के अध्यक्षों के लक्षण भी बताएं हैं जिसके आधार पर उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए।

रत्नाध्यक्ष के लक्षण बताते हुए शुक्र कहते हैं कि रत्न, स्वर्ण, चाँदी, मुद्रा (सिक्का) के जो अध्यक्ष बनाये जाएं, उन्हें रत्नादिकों के मान (तौल), आकार, चमक, रंग जाति और समानता को देखकर उनके मूल्य को जानने वाला होना चाहिए।

मानाकृतिप्रभावर्णजातिसाम्याच्च मौल्यवित्।

रत्नानां स्वर्णरजतमुद्राणामधिपष्च सः।।

कोषाध्यक्ष के लक्षण बताते हुए शुक्र कहते हैं–और जो विनम्र स्वभाव वाले, धनी तथा व्यवहार में चतुर, धन की प्राण के समान रक्षा करने वाले तथा अत्यन्त कृपण हों उन्हें 'कोषाध्यक्ष' पद पर नियुक्त करना चाहिए।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

दानतस्तु सधनो यस्तु व्यवहारविषारदः।

धनप्राणोऽतिकृपणः कोषध्यक्षः स एव हि।।

धान्यपति के लक्षण बताते हुए शुक्र कहते हैं कि– जो धान्यों की जाति, वजन, मूल्य, श्रेष्ठता, खाने का तरीका, पाने का उपाय, साफ करना इन सब विषयों को अच्छी तरह से जानता है, उसे 'धान्यप' धान्यों का अध्यक्ष बनाना चाहिए।

जतिं तुलां च मौल्यं च सारं भोगं परिग्रहम्।

संमार्जनं च धान्यानां विजानति स धान्यपः।।

इसी प्रकार दानाध्यक्ष के लक्षण बताते हुए शुक्र कहते हैं कि– जो याचकों को विमुख नहीं करता है और स्वयं संग्रह भी नहीं करता है एवं दानषील, लोभरहित, गुणज्ञ, आलस्यरहित, दयालु, मधुरभाषी, दान देने योग्य व्यक्तियों को पहचानने वाला और विनम्र होता है वही व्यक्ति इन गुणों से सदा युक्त रहने वाला होने से 'दानाध्यक्ष' पद के योग्य होता है।

याचकं विमुखं नैव करोति न च संग्रहम्।

दानषीलष्च निर्लोभो गुणज्ञष्च निरालसः।।

दयालुर्मृदुवाग्दान–पात्रविन्नति–तत्परः।

नित्यमेभिर्गुणैर्युक्तो दानाध्यक्षः प्रकीर्तितः।।

कर वसूल करने वाले के लक्षण बताते हुए शुक्र कहते हैं– जिस प्रकार से माली अत्यन्त यत्न से वृक्षों को बढ़ाकर उससे फल तथा पुष्प का संग्रह करता है उसी प्रकार से प्रजाओं से जो राजा का भाग (कर/मालगुजारी) ग्रहण करने वाला हो वैसा 'भागहार' बनाना चाहिए।

वृक्षान् संपुष्य यत्नेन फलं पुष्पं विचिन्वति।

मालाकार इवातयन्तं भागहारस्तथाविधः।।

चुंगी लेने वाले के लक्षण बताते हुए शुक्र कहते हैं– वेचने वालों का मूल धन में जिससे कमी न आये ऐसे शुल्क (चुंगी) को जो व्यापारियों से वसूल करने वाला हो उसे 'षौल्किक' पद पर नियुक्त करे।

यथा विक्रयिणां मूलधननाषो भवेन्नहि।

तथा शुल्कं तु हरति शौल्किकः स उदाहृतः।।

आचार्य शुक्र राजा और भृत्य दोनों को राज्य सम्बंधी समस्त कार्यों को लिखित रूप में करने पर बल देते हैं जिससे भविष्य में कोई भ्रम की स्थिति न रहे। उनके अनुसार– भृत्य को बिना लिखित राजाज्ञा के कभी कोई कार्य नहीं करना चाहिए और राजा को भी बिना लिखे छोटी या बड़ी कोई भी आज्ञा नहीं देनी चाहिए अर्थात् सदा लिखित आज्ञा देनी चाहिए। 'भ्रम हो जाना' यह मनुष्य का स्वभाव है, इससे भ्रम–निवारणार्थ निर्णय करने में लेख बहुत बड़ा प्रमाण सिद्ध होता है।

न कार्यं भृतकः कुर्यान्नृपलेखाद्विना क्वचित।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

नाज्ञापयेल्लेखनेन ऽविनाऽल्पं वा महन्नृपः।।291।।

भ्रान्तेः पुरूषधर्मत्वाद्यल्लेख्यं निर्णायकं परम्।

शुक्र राजा की आज्ञाओं को लिखित रूप में लिपिबद्ध करने के इतने हिमायती थे कि उन्होंने आगे कहा कि जो राजा बिना लिखे आज्ञा देता है और जो भृत्य बिना लिखित राजाज्ञा के अनुसार राजकार्य करता है, वे दोनों चोर हैं अर्थात् अनुचित करने वाले और निन्दनीय हैं।

अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः।।292।।

राजकृत्यमुभौ चोरौ तौ भृत्यनृपती सदा।

आचार्य शुक्र ने अपने ग्रंथ में आय, व्यय, उपभोग आदि अवधारणाओं को भी परिभाषित किया है जिनका विवरण निम्नवत है–

शुक्र आय और व्यय को परिभाषित करते हुए बताते हैं कि प्रतिवर्ष, प्रतिमास और प्रतिदिन जो सोना, पशु तथा धान्य आदि जो अपने अधीन हो जाता है अर्थात् अपने पास आता है; वह 'आय' कहलाता है और जो सोना आदि धन दूसरे के अधीन कर दिया जाता है; वह 'व्यय' कहलाता है।

साद्यष्करश्रैवव प्राचीन आयः सञ्चितसंज्ञकः।

व्ययो द्विघा चोपभुक्तस्तथा विनिमयात्मकः।।324।।

आय के भेद बताते हुए शुक्र कहते हैं कि आय दो प्रकार की होती है, एक तात्कालिक और दूसरा प्राचीन जिसे 'संचित' भी कहते हैं। व्यय भी दो प्रकार का होता है, एक उपभुक्त (उपभोग किया हुआ), दूसरा विनिमयात्मक (किसी वस्तु के बदले के रूप में दिया हुआ)।

मौल्याधिक्यं कुसीदं च गृहीतं याजनादिभिः।

पारितोष्यं भृतिप्राप्तं विजिताद्यं धनं च यत्।। 331।।

स्वस्वत्वेऽधिकसंज्ञं तदन्यत्साहजिकं स्मृतम्।

अधिक के लक्षण बताते हुए शुक्र कहते हैं जो उचित मूल्य से अधिक रूप में या सूद रूप में किंवा यज्ञ आदि कराने से प्राप्त हुआ एवं पारितोषिक या वेतन किंवा युद्ध आदि के द्वारा जीत रूप में प्राप्त हुआ धन है वह अपने स्वत्व से अधिक होने से 'अधिक' संज्ञक कहलाता है। इससे अन्य रीति से जो धन प्राप्त होता है वह 'साहजिक' कहलाता है।

पूर्ववत्सरशेषं च वर्तमानाब्दसम्भवम्।। 332 ।।

स्वाधीनं सञ्चितं द्वेधा धनं सर्वं प्रकीर्तितम्।

संचित धन के भेद–अधिक और साहजिक भेद से पूर्वोक्त दो प्रकार के जो आय हैं वे प्रत्येक पार्थिव (स्थावर) तथा इतर (जङ्गम=चल) भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें से पार्थिव आय वह कहलाता है जो भूमि के भागों से उत्पन्न हो।

द्वेधाधिकं साहजिकं पार्थिवेतरभेदतः।।333।।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

भूमिभागसमुद्भत आयः पार्थिव उच्यते।

पार्थिव संज्ञक आय के भेद–उस पार्थिवसंज्ञक आय के देवालयों, कृत्रिम (कल्पित) वस्तुओं, जल, देश ग्राम तथा पुरों से पृथक्–पृथक् विभिन्न हुये भूमि–संबन्धी विभागों से एवं बहुत (अधिक), मध्यम तथा अल्प फलों से अनेक भेद होते हैं।

स देवकृत्रिमजलैर्देशग्रामपुरैः पृथक्।।334।।

बहुमध्याल्पफलतो भिद्यते भूविभागतः।

चल संज्ञक आय के लक्षण–और व्यवसायी आदि लोगों से प्राप्त होने वाले शुल्क (चुंगी–टैक्स), दण्ड (जुर्माना), खान, कर (मालगुजारी), भाटक (भाड़ा), उपायन (नजर–भेट), इत्यादि से होने वाले आय को आय का ज्ञान रखने वाले एवं लिखने में (हिसाब लिखने में) चतुर लोगों ने इतर अर्थात् चल–संज्ञक कहा है।

शुल्कदण्डाकरकरभाटकोपायनादिभिः ।।335।।

इतरः कीर्तितस्तज्ज्ञैरायो लेखविशारदैः।

विभागानुसार आय–व्यय के व्याप्य–व्यापक का निर्देश–जिस निमित्त (विभाग) से जो आय होता है व्यय भी उसी निमित्त (विभाग) के नाम में होता है। अर्थात् जिस विभाग में आय होता है उस विभाग में व्यय भी होता है। और आय की भांति व्यय भी व्याप्य–व्यापक से युक्त है अर्थात् स्वल्प तथा बहुविषयक कहा हुआ है।

यन्निमित्तो भवेदायो व्ययस्तन्नामपूर्वकः ।।336।।

व्ययश्रेव्व समुद्दिष्टो व्याप्यव्यापकसंयुतः।

व्यय के भेदों एवं पुनरावर्त्तकः के लक्षण–वह व्यय दो प्रकार का होता है, एक–पुनरावर्त्तक (फिर लौटकर आनेवाला), दूसरा स्वत्वनिवर्त्तक (देने वाले के स्वत्व को निवृत्त करनेवाला) कहलाता है। जो व्यय निधि, उपनिधि या विनियम रूप में हुआ है एवं सूद–सहित या विना सूद का इस भांति से दो प्रकार का आधमर्णिक ये सब आवृत्त (पुनरावर्त्तक) संज्ञक कहलाते हैं।

पुनरावर्तकः स्वत्वनिवर्तक इति द्विधा ।।337।।

व्ययो यन्निध्युपनिधीकृतो विनिमयीकृतः।

सकुसीदाकुसीदाघमर्णिकश्राव्वृत्तः स्मृतः।।338।।

निधि, उपनिधि आदि व्यय के लक्षण–निधि (निधिकृत) व्यय उसे कहते हैं जो पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है, इसको अत्यन्त कष्ट पड़ने पर भी ग्रहण नहीं किया जाता है–अतः यह भी एक प्रकार का व्यय ही है। उप–निधि (उपनिधीकृत) व्यय वह है जो दूसरे के पास रखा हुआ है। विनिमयीकृत व्यय उसे कहते है जो दिये हुये मूल्यादि से बदले में मिला हुआ है। सूद पर या बिना सूद के जो दिया गया है उसे आधमर्णिक व्यय कहते है इसमें सूद पर जो दिया जाता है उसे ऋण और बिना सूद के जो दिया जाता है उसे याचित (हथ–उधार) कहते हैं।

निधिर्भूमौ विनिहितोऽन्यस्मिन्नुपनिधिः स्थितः।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

दत्तमूल्यादिसंप्राप्तः स वै विनिमयीकृतः।। 339।।

वृद्ध्यावृद्ध्या च यो दत्तः स वै स्यादाधमणिकः।

सवृद्धिकमृणं दत्तमकुमीदं तु याचितम् ।। 340।।

स्वत्वनिवर्त्तक के भेद–स्वत्वनिवर्त्तक व्यय दो प्रकार प्रकार का होता है प्रथम–ऐहिक, द्वितीय–पारलौकिक।

स्वत्वनिवर्तको द्वेधा त्वैहिकः पारलौकिकः।

ऐहिक तथा पारलौकिक व्यय के भेद–उसमें प्रतिदान, पारितोष्य वेतन और भोग्य रूप से ऐहिक के 4 भेद होते हैं। और पारलौकिक के अनन्त भेद होते हैं। जो नित्य शेष को रोकड़ में मिलाया जात है वह भी पुनरावर्त्तक व्यय कहलाता है।

प्रतिदानं पारितोष्यं वेतनं भोग्यमैहिकः।। 341।।

चतुविघस्तथा पारलौकिकोऽनन्तभेदभाक्।

शेषं संयोजयेन्नित्यं पुनरावर्तको व्ययः ।। 342।।

प्रतिदान, पारितोषिक और वेतन व्यय के लक्षण–मूल्य रूप में जो दिया जाता है उसे 'प्रतिदान' कहते हैं। सेवा तथा शूरता आदि से प्रसन्न होकर जो दिया जाता है, उसे 'पारितोषिक' (पारितोष्य) कहते हैं। भरण–पोषणार्थ जो भृत्यों को दिया जाता है उसे 'वेतन' कहते हैं।

मुल्यत्वेन च यद्दत्तं प्रतिदानं स्मृतं हि तत्।

सेवाशौर्यादिसंतुष्टैर्दत्तं तत्पारितोषिकम्।। 343।।

भृतिरूपेण सदंत्तं वेतनं तत् प्रकीर्तिम्।

उपभोग्य के लक्षण–धान्य, वस्त्र, गृह, बगीचा, गो गज आदि तथा रथ के लिये एवं विद्या तथा राज्य आदि के उपार्जन के लिये और धन आदि की प्राप्ति के लिये एवं इन सबों की रक्षा के लिये जो व्यय किया जाता है उसे 'उपभोग्य' कहते हैं।

धान्यवस्त्रगृहाराम–गोगजादिरथार्थकम् ।। 344।।

विद्याराज्याद्यर्जनार्थं धनाप्तत्यर्थं तथैव च।

व्ययीकृतं रक्षणार्थमुपभोग्यं तदुच्यते ।। 345।।

भोग्य व्यय के लक्षण–सोना, रत्न, चांदी, निष्क (मोहर–स्वर्ण मुद्रा) रखने के जो स्थान हैं एवं रथ, घोड़े, गौ, गज, ऊंट, बकरे, भेड़ें आदि के तथा इनके अध्यक्षों के लिये पृथक्–पृथक् बने हुये जो स्थान (गृह) हैं, और बाद्य (बाजे), शख, अस्त्र, धान्य, संभार (नाना प्रकार की सामग्री) रखने के लिये जो स्थान हैं तथा मंत्री, शिल्प, नाट्य (नाटक–संबंधी), वैद्य, मृग, पाक, पक्षी इनके लिये जो स्थान हैं, उन सबों की गणना भोग्य के अन्दर है, अतः इन सबों के संबंध में होने वाले व्यय को भी 'भोग्य' कहते हैं।

सुवर्णरत्नरजतनिष्कशालास्तथैव च।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

रथाश्वगोगजोष्ट्राजावीनशालाः पृथक् पृथक्।। 346।।

वाद्यशस्त्रास्त्रवस्त्राणां धान्यसम्भारयोस्तथा।

मन्त्रिशिल्पनाट्यवैद्यमृगाणां पाकपक्षिणाम् ।। 347।।

शाला भोग्ये निविष्टास्तु तद्व्ययो भोग्य उच्यते।

पारलौकिक व्यय के चार भेद और उनके लक्षण–जप, होम, पूजन तथा दान भेद से पारलौकिक व्यय के मुख्य चार भेद होते हैं, और जो आय आकर पुनः जाने वाला हो उसे विशेष आय एवं जो व्यय जाकर पुनः आने वाला हो उसे बिशेष व्यय कहते हैं। अतः व्यय तथा आय ये दोनों पृथक्–पृथक् आवर्त्तक (वापस आने वाले) निवर्त्ती (नहीं वापस आने वाले) भेदों से दो–दो प्रकार के होते हैं।

जपहोमार्चनैर्दानैश्वदुर्धा पारलौकिकः ।। 348।।

पुनर्यातो निवृत्तश्र्व् विशेषायव्ययौ च तौ।

आवर्तको निवर्ती च व्ययायौ तु पृथग्द्विधा ।। 349।।

आय–व्यय–लेखक के कर्त्तव्य–लेखक वापस आने वाले और वापस न आने वाले व्यय तथा आय को लिखे।

आवर्तकविहीनौ तु व्ययायौ लेखको लिखेत्।

क्रय (खरीदना), अधमर्ण की घटनाओं (ऋणादि व्यवहारों) एवं अन्य विषयों में विश्वासपात्र लेखक स्वयं द्रव्य लिखकर तब देवे या लेवे।

क्रयाधमर्णघटनान्यस्थलाप्तो विवर्तकः ।। 350।।

द्रव्यं लिखित्वा दद्यात्तु गृहीत्वा विलिखेत्स्वयम्।

इस प्रकार से आय–व्यय के लिखने वाले का लिखा आय तथा व्यय न कम होता है और न बढ़ता है।

हीयते वर्धते नैवमायव्ययविलेखकः।। 351।।

अवशिष्ट आय के विविध भेद–अवशिष्ट आय और पृथक–पृथक कारण, प्रमाण, संबन्ध (संयोग), कार्या ड़ग (कार्यों के अवान्तर व्यापार), व्याप्य (थोड़े विषय), व्यापक (बहुत विषय), मान, संख्या, उन्मान और परिमाण इन सबों के द्वारा बहुत प्रकार से भिन्न–भिन्न होते हैं।

हेतुप्रमाणसम्बन्धकार्याङगव्याप्यव्यापकैः।

आयाश्व बहुधा भिन्ना व्ययाः शेषं पृथक् पृथक् ।। 352।।

मानेन संख्यया चैवोन्मानेन परिमाणकैः।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

लोकव्यवहारार्थ द्रव्य तथा धन के लक्षण–लोकव्यवहार के लिये ढाले गये चांदी, सोना एवं तांबे के सिक्कों का व्यवहार प्रजाओं को करना चाहिये। कौड़ी से लेकर रत्न–पर्यन्त की संज्ञा 'द्रव्य' है। पशु धान्य, वस्त्र से लेकर तृण पर्यन्त की संज्ञा 'धन' है।

रजतस्वर्णताम्रादि व्यवहारार्थमुद्रितम्।

व्यवहार्ये वराटाद्यं रत्नान्तं द्रव्यमीरितम् ।। 356।।

सपशुधान्यवस्त्रादि–तृणान्तं धनसंज्ञकम्।

व्यवहार के लिये राजा द्वारा निश्चित स्वर्णादि मुद्रायें प्रत्येक वस्तु की मूल्य समझी जाती हैं।

व्यवहारे चाधिकृतं स्वर्णाद्यं मूल्यतामियात् ।। 357।।

मूल्य की परिभाषा–संसार में कारण आदि के संयोग होने से जो पदार्थ जितने व्यय में सिद्ध होता है उतना व्यय उसका मूल्य होता है।

कारणादिसमायोगात्पदार्थस्तु भवेद् भुवि।

येन व्ययेन संसिद्धस्तद्व्ययस्तस्य मूल्यकम् ।। 358।।

मूल्य के न्यूनाधिक्य का कारण–निर्देश–पदार्थों की सुलभता या दुर्लभता से किंवा अच्छा या बुरा होने से (तारतम्यानुसार) उनका मूल्य विक्रेता के इच्छानुसार अधिक या कम होता है।

सुलभासुलभत्वाद्यागुणत्वगुणसंश्रयैः।

यथाकामात्पदार्थानामर्घ हीनाधिकं भवेत् ।। 359।।

किसी प्रदेश में भी राजा मणियों तथा सोना, चांदी आदि धातुओं का मूल्य थोड़ा न रखे। इन सबों के मूल्य में कमी जब होती है तब राजा की दुष्टता से न कि प्रजा की।

न हीनं मणिधातूनां कचिन्मूल्यं प्रकल्पयेत्।

मूल्यहानिस्तु चैतेषां राजदौष्ट्येन जायते।। 360।।

पत्र में आय–व्यय लेखन का स्थान–विचार–वही खाते पर पहले सम्पूर्ण आय (आमदनी) लिखे पीछे जो व्यय हुआ हो उसे लिखे, और वहीं के बाईं ही ओर आय दाहिनी ओर व्यय लिखे।

आयमादौ लिखेत्सम्यग् व्ययं पश्चात्तथागतम्।। 372।।

वामे चायं व्ययं दत्ते पत्रभागे च लेखयेत।

जहाँ पर आय तथा व्यय ये दोनों अधिक या अल्प अथवा आश्रय तथा आश्रयी रूप से हों वहाँ पर उन दोनों को वहीं के वाम भाग में यथाक्रम ऊपर की ओर रखना चाहिये। ऐसी व्यवस्था नियम के लिये है।

यत्रोभौ व्यापकव्याप्यौ वामोर्ध्वभागगौ क्रमात।। 373।।

आधाराधेयरूपौ वा कालार्थ गणितं हि तत्।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

आय कितने हैं और व्यय कितने हैं और कि द्रव्य का, कितना शेष है? इन सबों का भली–भाँति ज्ञान विशिष्टसंज्ञक पूर्वोक्त व्यापक लेख विशेष से होता है।

आयाः कति व्ययाः कस्य शेषं द्रव्यस्य चास्ति वै।। 380।।

विशिष्टसंज्ञकैरेषां संविज्ञानं प्रजायते।

पहले जो वस्तु जिस तरह से प्राप्त हो उसे लिखे उसके पश्चात् उसकी संख्या लिखनी चाहिये। उसके बाद विवरण के साथ जैसा द्रव्य, स्थान तथा अधिसंज्ञक हो उसे लिखे।

आदौ लेख्यं यथा प्राप्तं पश्चात्तन्दणितं लिखेत् ।। 381।।

यथा द्रव्यं च स्थानं चाधिकसज्ञं च टिप्पनैः।

शेषायव्यय–स्थलायव्ययज्ञान–अवशिष्ट आय तथा व्यय का पूर्ण ज्ञान बहियों से होता है, और बहुत स्थानों के आय–व्यय का पूर्ण ज्ञान स्थानों के ज्ञान से ही हो जाता है।

शेषायव्ययविज्ञानं क्रमाल्लेख्यैः प्रजायते।। 382।।

स्थलायव्यविज्ञानं व्यापकं स्थलतो भवेत्।

भृति के 3 प्रकारों का निर्देश–कार्यमाना (कार्य के परिमाण के अनुसार दी जाने वाली), कालमाना (काल के परिमाण के अनुसार दी जाने वाली), कार्यकालमिति (कार्य तथा काल के प्रमाणानुसार दी जाने वाली) इन भेदों से भृति (मजदूरी या वेतन) 3 प्रकार की पण्डितों ने कही है। जैसी कही है वैसी हिसाब करके भृति देनी चाहिये।

कार्यमाना कालमाना कार्यकालमितिस्निग्धा।। 395।।

भतिरूक्ता तु तद्विज्ञैः सा देया भाषिता यथा।

कार्यमानादिकों के लक्षण–'यह भार यहाँ से उठाकर वहाँ पर रख दो, तुम्हें इतनी मजदूरी दी जायगी' यह 'कार्यमाना' भृति पण्डितों ने कही है।

अयं भारस्त्वया तत्र स्थाप्यस्त्वेतावतीं भृतिम्।। 396।।

दास्यामि कार्यमाना सा कीर्तिता तद्विदेशकैः।

'प्रतिवर्ष', प्रतिमास एवं प्रतिदिन इतनी भृति तुम्हे मैं दूंगा' इसे 'कालिका' (कालमाना) भृति कहते हैं।

वत्सरे वत्सरे वापि मासि मासि दिने दिने।। 397।।

एतवर्ती भृतिं तेऽहं दास्यामीति च कालिका।

विद्या और धन का संचय करने का निर्देश–विद्या तथा धन चाहने वाले को नित्य क्रम से क्षण तथा कण का त्याग ('थोड़ा है इससे क्या लाभ होगा इस बुद्धि से उपेक्षा) नहीं करनी चाहिये किन्तु क्षण 2 भर प्रतिदिन अभ्यास करके विद्या का एवं कण 2 भर का संग्रह कर धन का अर्जन करना चाहिये।

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत्।। 176।।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

न त्याज्यौ तु क्षणकणौ नित्यं विद्याधनार्थिना।।

धनार्जन के उपयोगों का निर्देश–उत्तम भार्या, पुत्र या मित्र के लिये एवं दान के लिये तो नित्य धनार्जन करना हितकर है, अतः बिना इन सब भार्यादियों के धन और भृत्यादिजनों से क्या प्रयोजन है अर्थात् धनादि व्यर्थ है।

सुभार्यापुत्रमित्रार्थ हितं नित्यं धनार्जनम्।। 177।।

दानार्थ च विना त्वेतैः किं धनैश्र्व जनैश्र्व किम्।

भविष्यकाल में रक्षा करने में समर्थ धन की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। और 100 वर्ष तक मैं तो जीऊँगा एवं इस धन से आनन्द करूँगा–इस बुद्धि से धन और विद्या आदि का 24 वर्ष पर्यन्त या उसका आधा (12) वर्ष या उसका आधा (6) वर्ष पर्यन्त सदा संग्रह करना चाहिये।

भाविसंरक्षणक्षमं धनं यत्नेन रक्षयेत्।। 178।।

जीवामि शतवर्षं तु नन्दाभि च धनेन च।

इति बुद्ध्या साश्वनुयाद्धनं विद्यादिकं सदा।। 179।।

पञ्चविंशत्यब्दपूरं तदर्ध वा तदर्धकम्।

धन की अपेक्षा विद्या की श्रेष्ठता का निर्देश–विद्यारूपी धन अत्यन्त श्रेष्ठ है, इससे अन्य धन विद्यामूलक है अर्थात् विद्या से ही अन्य धन का उपार्जन होता है क्योंकि यह विद्याधन देने से नित्य बढ़ता है, अन्य धन घटता है। और इसमें भार नहीं होता है, अन्य धन में भार होता है। एवं इसे कोई उठा कर नहीं ले जा सकता है, अन्य धन को उठा कर ले जा सकता है।

विद्याधनं श्रेष्ठतरं तन्मूलमितरद्धनम्।। 180।।

दानेन वर्धते नित्यं न भाराय न नीयते।

अवश्य धनार्जन करने का निर्देश–जब तक मनुष्य धनयुक्त रहता है तब तक सब लोग उसकी सेवा करते हैं और वही धन से रहित हो जाता है तो भले ही गुणवान हो किन्तु उसे स्त्री–पुत्रादिक भी छोड़ देते हैं, अतः संसार में व्यवहार चलाने के लिये धन ही सारभूत कहा हुआ है, और इसीसे धन–प्राप्ति के लिये मनुष्य प्राणों को संशय में डालने वाले कठिन भी कार्यो के द्वारा प्रयत्नशील रहे।

अस्ति यावत्तु सधनस्तावत्सवैंस्तु सेव्यते।। 181।।

निर्धनस्त्यज्यते भार्यापुत्राद्यैः सगुणोप्यतः।

संसृतौ व्यवहाराय सारभूतं धनं स्मृतम् ।। 182।।

अतो यतेत तत्प्राप्त्यै नरः सूपायसाहसैः।

और सुन्दर विद्या उपार्जन या सुन्दर सेवा, शूरता, कृषि (खेती) करके या ब्याज पर रूपया ऋण देकर, दुकानदारी या संगीत आदि कला के द्वारा, दान लेकर और अधिक क्या कहें, चाहे जिस किसी वृत्ति

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

का आश्रय लेकर मनुष्य धनवान बन सके उसी के अनुकूल कार्य करे, क्योंकि धनियों के द्वार पर गुणी लोग नौकर के तरह पड़े रहते हैं।

सुविद्यया सुसेवाभिः शौर्येण कृषिभिस्तथा।। 183।।

कौसीदवृद्ध्या पण्येन कलाभिश्च प्रतिग्रहैः।

यया कया चापि वृत्त्या धनवान्स्यात्तथा चरेत्।। 184।।

तिष्ठन्ति सधनद्वारे गुणिनः किङक्रा इव।

धन के प्रभाव का निर्देश–धनवान पुरूषों के दोष भी गुण के समान हो जाते हैं, और निर्धनों के गुण भी दोष–तुल्य हो जाते हैं। इससे निर्धन की सभी लोग निन्दा ही किया करते हैं।

दोषा अपि गुणायन्ते दोषायन्ते गुणा अपि।। 154।।

धनवतो निर्धनस्य निन्द्यते निर्धतोऽखिलैः।

कितने मनुष्य अत्यन्त दरिद्रता भोगकर मर गये, कितने एक देशान्तर में चले गये, कितने एक पहाडों में जा बसे, कितने एक आत्महत्या करने के लिये घर से निकल गये।

सुनिर्धनत्वं प्राप्यैके मरणं भेजिरे जनाः।। 186।।

ग्रामायैकेऽचलायैकै नाशायैके प्रवव्रजुः।

धन के फेर में पड़ कर कितने एक चिन्ता करते–करते पागल हो जाते हैं, कितने एक शत्रुओं की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, और कितने एक दूसरों की या शत्रुओं की नौकरी भी कर लेते हैं।

उन्मादमेके पुष्यन्ति यान्त्यन्ये द्विषतां वशम् ।। 187।।

दास्यमेके च गच्छन्ति परेषामर्थहेतुना।

और अपने स्त्री पुत्र या मित्र तक भी जिस प्रकार से यह न जान सकें कि 'इसने कितना और कहाँ पर धन संचित करके रखा है' इस प्रकार प्रयत्न करे और इसीलिये उस धन को बढ़ने के लिये लिखा–पढ़ी के साथ सूद पर दे देवे किन्तु घर में न रखे, क्योंकि पुत्रादि को ज्ञात होने पर उस धन की रक्षा असंभव हो जाती है।

यथा न जानन्ति धनं संचितं कति कुत्र वै।। 188।।

आत्मस्त्रीपुत्रमित्राणि सलेखं धारयेत्तथा।

व्यवहार में लेख की आवश्यकता का निर्देश–व्यवहार (व्यवसाय) करने वालों के लिये लेख से बढ़ कर दूसरा कोई स्मरणसूचक चिन्ह नहीं है, इसलिये बुद्धिमान को सदा बिना लेख के व्यवहार (रूपया देना) नहीं करना चाहिये।

नैवास्तिलिखितादन्यत् स्मारकं व्यवहारिणाम्।। 189।।

न लेख्येन विना कुर्याद् व्यवहारं सदा बुधः।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

लोभ से रहित धनी पुरूष या विश्वासपात्र या क्षमशील किंवा श्रेष्ठ पुरूष अथवा राजा इनमें किसी एक के पास में अच्छी तरह से संचित धन को रखना चाहिये अथवा रखने के लिये हुये धन को लिख लेने के बाद चाहे जिसके पास रखना चाहिये।

निर्लोभे धनिके राज्ञि विश्वस्ते क्षमिणां वरे।। 190।।

सुसश्ञ्चितं धनं धार्यं गृहीतलिखितं तु वा।

मित्रता के नाते बिना ब्याज के भी धन देने का निर्देश–मित्रता के नाते मांगने पर मित्र के लिये बिना सूद पर धन सदा देना चाहिये और यदि उस मित्र के ऊपर वैसा बिना सूद पर लिया हुआ धन बहुत सा बाकी भी पड़ा हो तो भी पुनः देना हानिकर नहीं है। अर्थात् मित्र के लिये सभी सत्य है।

मैत्र्यर्थे याचितं दद्यादकुसीदं धनं सदा।। 191।।

तस्मिन् स्थितं चेन्न बहु हानिकृच्च्च तथाविधम्।

लिखा–पढ़ी के साथ सूद पर धन देने का एवं अन्यथा रीति से न देने का निर्देश–ऋण लेने वाले को सूद देने में समर्थ देख कर सदा बन्धक या किसी के जमानत पर और किसी के गवाही के साथ लिखा–पढ़ी करके उचित मात्रा में, सुखपूर्वक लौटने लायक धन देना चाहिये, और ब्याज के लाभ से उपर्युक्त रीति से भिन्न अवस्था में धन नहीं देना चाहिये नहीं तो मूल धन नष्ट हो जाने की संभावना रहती है।

द्यष्टावऽधमर्णं वृद्ध्यापि व्यवहारक्षमं सदा।। 192।।

सबन्धं सप्रतिभुवं धनं दद्याच्च साक्षिमत्।

गृहीतलिखितं योग्यमानं प्रत्यागमे सुखम्।। 193।।

न दद्याद् वृद्धिलोभेन नष्टं मूलधनं भवेत्।

उचित व्यय करने का निर्देश–हृदय के अन्दर उदारता रखकर और ऊपर से कृपणता (कंजूसी) रख कर समय आने पर उचित व्यय मनुष्य को करना चाहिये। इससे अन्यथा नहीं करना चाहिये।

कृत्वा स्वान्ते तथौदार्यं कार्पण्यं बहिरेव च ।। 194।।

उचितं तु व्ययं काले नरः कुर्यान्न चान्यथा।

सस्त्रीक प्रौढ़ पुत्रों को धन का विभाग कर देने का अन्यथा अनर्थ की सम्भावना का निर्देश– अपना कल्याण चाहने वाला पिता स्त्री–युक्त एवं कार्य करने में समर्थ हुये पुत्रों को शीघ्र आपस में विभक्त कर दे (जिसमें आपस में भविष्य में कलह न कर सकें) और इसी प्रकार से सहोदर भाई लोग भी विवाह हो जाने एवं प्रौढ़ (कार्य करने में समर्थ) हो जाने पर आपस में विभाग कर लें अन्यथा परस्पर लड़कर निश्चय मिट जाते हैं।

सदारप्रौढपुत्रान् द्राक् श्रेयोऽर्थी विभजेत् पिता।

सदारभ्रातरः प्रौढा विभजेयुः परस्परम्।। 198।।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

ब्याजी धन या दिये ऋण धन का विभाग करने का निषेध–गृहपति के पुत्र लोग पिता के उस धन का परस्पर विभाग न करें जो कि सूद पर दिया हुआ अधमर्ण (ऋण लेने वाले) के पास हो अथवा उत्तमर्ण (सूद पर द्रव्य देने वाला महाजन) को देने के लिये जो धन हो।

कथं वसेत्तद्वहुत्वं पशूनां तु नरद्वयम्।

विभजेयुर्न तत्पुत्रा यद्धनं वृद्धिकारणम्।। 200।।

बिना साक्षी या ऋणपत्र लेख के ऋण न देने का निर्देश–और सूद पर या बिना सूद का को महाजनी (ऋण देने वाला) का धन हो वह जिस प्रकार से दोनों मित्रों को परस्पर क्लेश न पहुँचे तथा बिना साक्षी बिना ऋणपत्र पर लिखाये न दे।

सकुसीदमकुसीदं धनं यच्चौत्तमर्णिकम्।। 203।।

दद्यादगृहीतमिव नोभयोः क्लेशकृद्यथा।

नासाक्षिमच्चालिखितमृणपत्रस्य पृष्ठतः।। 204।।

बिना दान किये कभी कोई दिन व्यतीत न करने का निर्देश–विपुल धन से सम्पन्न होते हुए भी जो पालन करने के योग्य हैं उन्हीं का पालय करना चाहिये। बुद्धिमान को बिना कुछ दिये हुये कोई भी दिन व्यतीत नहीं करना चाहिये।

भूत्वा महाधनः सम्यक् पोष्यवर्गं तु पोषयेत्।

अदत्त्वा यत्किञ्चवदपि न नयेद्दिवसं बुधः।। 207।।

यथेष्ट दान–धर्म करने का निर्देश– 'मैं मृत्यु के मुख में स्थित हूँ, मेरी क्षणभर की भी आयु नहीं है, और दान और धर्म इन दोनों को छोड़कर परलोक में अन्य कोई मेरा सहायक नहीं है, तथा दानशील व्यक्तियों के आश्रय से यह जगत ठहरा हुआ है। शठों के आश्रय से नहीं।' ऐसा समझकर यथेष्ट दान तथा धर्म करना चाहिये।

स्थितो मृत्युमुखे चाहं क्षणमायुर्ममास्ति न।

इति मत्वा दानधर्मौ यथेष्टौ तु समाचरेत्।। 208।।

न तौ बिना में परत्र सहायाः सन्ति चेतरे।

दानशीलाश्रयाल्लोको वर्तते न शठाश्रयात्।। 209।।

दान से शत्रु को भी मित्र बन जाने का निर्देश–जब शत्रु लोग भी दान से मित्र बन जाते हैं तब औरों के लिये क्या कहना है अर्थात् अन्य तो मित्र बन ही जाते हैं।

भवन्ति मित्रा दानेन द्विषन्तोपि च किं पुनः।

परलोक–सुखसाधन 'संविद' दान के लक्षण–देवता, यज्ञ, ब्राह्मण, गौ, इनके लिये जो दिया जाता है वह परलोक–सुख–साधन के लिये होता है और उसी को 'संविद्' दान अर्थात् 'अवश्य देना चाहिये' इस बुद्धि से दिया हुआ कहते हैं।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

देवतार्थं च यज्ञार्थं ब्राह्मणार्थं गवार्थकम्।। 210।।

यद्यत्तं तत्पारलौक्यं संविद्यत्तं तदुच्चते।

पारितोष्य, श्रियादत्त या यशोऽर्थक दान के लक्षण–बन्दी, मागध तथा मल्ल आदि लोगों का अपना–अपना कार्य दिखाने के लिये जो पुरस्कार रूप में दिया जाता है उसे 'पारितोष्य' कहते हैं। और जो यश के लिये दिया जाता है उसे 'श्रियादत्त' (लक्षमी से दिया हुआ) कहते हैं अथवा उसे यशोऽर्थक और श्रियादत्त कहते हैं।

वन्दिमागधमल्लादिनटनार्थं च दीयते।। 211।।

पारितोष्यं यशोर्थं तु श्रिया दत्तं तदुच्यते।

आचारदत्त या हीदत्त दान के लक्षण–विवाहादि कार्यों में मित्र, संबंधी तथा बन्धुजनों को जो उपहार–स्वरूप में दिया जाता है उसे 'आचारदत्त' व्यवहार से दिया हुआ कहते हैं और उसी को 'हीदत्त' लज्जा से दिया हुआ भी कहते हैं।

उपायनीकृतं यत्तु सुहृत्संबन्धिबन्धुषु।। 212।।

विवाहादिषु चाचारदत्तं ह्रीदत्तमेव तत्।

भीदत्त दान के लक्षण–राजा, बलवान और कार्य को नष्ट करने वाला इन लोगों को जो कार्य के लिये दिया जाता है अथवा 'न देने में पाप है' इस भय से जो दिया जाता है उसे 'भीदत्त' भय से दिया हुआ कहते हैं।

राज्ञे च बलिने दत्तं कार्यार्थं कार्यघातिने।। 213।।

पापभीत्याऽथवा यच्च तत्तु भीदत्तमुच्यते।

नष्टदान के लक्षण–जो धन हिंसकों की वृद्धि के लिये दिया जाता है या जो द्यूत से नष्ट कर दिया गया था जिसे चोरों ने हर लिया, जो पापियों को अथवा परस्त्री–संगमार्थ दिया गया उसे नष्ट कहते हैं।

यद्यत्तं हिंस्त्रवृद्धयर्थ नष्टं द्यूतविनाशितम्।। 214।।

चौरैर्ह्रतं पापदत्तं परस्त्रीसङ्गमार्थकम्।

वशीकर वस्तुओं में दान तथा सरलता की महत्ता–दान तथा सरलता को छोड़ कर संसार में अन्य कोई वशीभूत करने का उपाय नहीं है। श्रत एवं अमृत दान करने से क्षीण हुआ किन्तु पुनः बढ़ने की इच्छा रखनेवाला शुक्लपक्ष की द्वितीया का चन्द्र वक्र (सरलता से रहित) होता हुआ भी शुभ होता है, अर्थात् उससे पुनः अमृत–दान मिलने की संभावना रहती है।

विना दानार्जवाभ्यां न भुव्यस्ति च वशीकरम्।। 216।।

दानक्षीणो विवर्धिष्णुः शशी वक्रोऽप्यतः शुभः।

अत्यन्त मृदुता से लोग उसे नहीं गिनते हैं (उसे कुछ नहीं समझते हैं), अत्यन्त बोलने से अपमान करते हैं, अत्यन्त दान से दरिद्रता होती है, अत्यन्त लोभ से तिरस्कार होता है।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

मार्दवान्नैव गणयेदपमानोऽतिवादतः।। 220।।

अतिदानेन दारिद्रयं तिरस्कारोऽतिलोभतः।

अल्प कारण से बड़े अर्थ का एवं अधिक धन्य–व्यय होने से कीर्ति के त्याग का निषेध–बुद्धिमान व्यक्ति थोड़े से कार्य के लिये बहुत धन की प्राप्ति का त्याग न करे और अभिमान से कभी छोटे कार्य को सिद्ध करने के लिये अधिक धन का व्यय व्यर्थ न करे अर्थात् थोड़े व्यय से करे। और सदा 'बहुत धन का व्यय होगा' इस भय से सत्कीर्ति की प्राप्ति का त्याग न करें।

बह्वर्थं न त्यजेदल्पहेतुनाऽल्पं न साधयेत्।। 227।।

बह्वर्थव्ययतो धीमानभिमानेन वै कचित्।

बह्वर्थव्ययभीत्या तु सत्कीर्तिं न त्यजेत् सदा।। 228।।

व्यवसाय में साधन, व्यय, लाभ आदि का विचारकर प्रवृत्त होने का निर्देश–जानकार व्यवसायी किसी कार्य (व्यवसाय) को आरम्भ करने के प्रथम यह कार्य कैसा है? इसके कौन–कौन से साधन (उपाय) हैं? इसमें कितना व्यय है? इसकी निकाय (खपत) कैसी है अथवा जो व्यय होगा उससे लाभ कैसा है? इन सबों को भलीभांति विचार करके पश्चात् कार्य करता है अन्यथा बिना विचार किये कोई छोटा भी कार्य कभी नहीं करता है।

कार्यम् तत्साधकादींश्व तद्व्ययं सुविनिर्गमम्।। 264।।

विचिन्त्य कुरूते ज्ञानी नान्यथा लघ्वपि कुचित्।

अधिक व्यय वाले कार्यों को न करने तथा लाभ वाले कार्यों को करने का निर्देश–विज्ञजन को अधिक व्यय और स्वल्प लाभ वाले कार्य करने की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। और जिसमें अधिक लाभ हो ऐसे कार्य व्यवसायियों को करना चाहिये अर्थात इससे अन्य कम लाभवाले कार्य छोड़ देने चाहिये और सदा बेचने योग्य द्रव्यों के मूल्य तथा तौल या संख्या का यर्थाथ रूप से ख्याल रखना चाहिये।

न च व्ययाधिकं कार्य कर्तुमीहेत पण्डितः।। 265।।

लाभाधिक्यं यत्क्रियते स सेवेद् व्यवसायिभिः।

मूल्यं मानं च पण्यानां याथात्म्यामृग्यते सदा।। 266।।

तपस्यादि में प्रतिनिधि बनाने में हितकारिता के अभाव का निर्देश–तपस्या करना, स्त्री (पत्नी), कृषि (खेती), सेवा, किसी वस्तु का उपभोग करना, भोजन करना। इन सबों के लिए अपना प्रतिनिधि किसी को बनाना हितकर नहीं है अर्थात् हानि की सम्भावना है इससे अन्य कार्यों में प्रतिनिधि की नियुक्ति ठीक होती है।

तपःस्त्रीकृषिसेवासूपभोग्ये नापि भक्षणे।

हितः प्रतिनिधिनित्यं कार्येऽन्ये तं नियोजयेत्।। 267।।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

कृषिवृत्ति की सर्वाधिक उत्तमता–नदी से सीची जाने वाली कृषि (खेती) उत्तम आजीविका है। वैश्यवृत्ति (व्यवसाय–गोरक्षा आदि) मध्यम आजीविका है। शूद्रवृत्ति (सेवा) अधम आजीविका है।

कृषिस्तु चोत्तमा वृत्तिर्या सरिन्मातृका मता।। 276।।

मध्यमा वैश्यवृत्तिश्र्व शुद्रवृत्तिस्तु चाधमा।

प्रथम निर्धनतादि के बाद धनी आदि होने में सुख–प्राप्ति का निर्देश–पहले दरिद्र होना पीछे धनी होना एवं पहले पैदल चलना बाद में सवारी पर चढ़ना अच्छा होता है क्योंकि इससे सुख मिलता है और यदि इससे विपरीत हो तो दुःख होता है।

आदौ वरं निर्धनत्वं धनिकत्वमनन्तरम्।

तथादौ पादगमनं यानगत्वमनन्तरम्।। 285।।

सुखाय कल्पते नत्यं दुःखाय विपरीतकम्।

शत्रु के लिए दान का स्वरूप–निर्देश–'प्रबल शत्रु को वर्ष में थोड़ा सा कर (मालगुजारी) या छोटा सा कोई ग्राम देकर या योग्यतानुसार कुछ देकर संतुष्ट करना' शत्रु के लिये 'दान' कहलाता है।

करैर्वा प्रमितैंग्रामैर्वत्सरे प्रबल रिपुम्।

तोषयेत्तद्धि दानं स्याद्यथायोग्येषु शत्रुषु।। 32।।

अन्यायोपार्जित कोश के दुष्टफलों का निर्देश–जिसने अन्याय से धन उपार्जन किया है अतः वह उस (अन्यायोपार्जन) के पाप का फल भोगने वाला होता है और धन सुपाल से लिया जाता है या सुपात्र को दिया जाता है वह धन बढ़ता है।

अन्यायेनाजितो यस्माद् येन तत्पापभाक् च सः।

सुपात्रतो गृहीतं यद्यत्तं वा वर्धते च यत्।। 5।।

सुपात्र तथा अपात्र के लक्षणादि का निर्देश–जो न्याय से धन का उपार्जन करने वाला तथा सरकार्य में व्यय करने वाला होता है वह 'सुपात्र' कहलाता है। इससे विपरीत अर्थात् अन्याय से धनोपार्जन तथा कुमार्ग में धन व्यय करने वाला 'अपात्र' कहलाता है अतः यदि अपात्र के सम्पूर्ण धन को हरण करने वाला राजा हो तो दोषभागी नहीं होता है।

स्वागमी सद्व्ययी पात्रमपात्रं विपरीतकम्।

अपात्रस्य हरेत् सर्वं धनं राजा न दोषभाक्।। 6।।

अधर्मशील राजा के धन को हर लेने का निर्देश–राजा को अधर्मशील राजा के पास से सभी प्रकारों से अर्थात् चाहे छल, बल या डाकुओं की वृत्ति (डाका डालने) से धन हरण करना चाहिये, तथा इसी तरह शत्रु के राज्य से सभी धनहरण करना चाहिये।

अधर्मशीलनृपतेः सर्वतः संहरेद्धनम्।

छलाद् बलाद्यस्युवृत्त्या परायाष्ट्रद्धरेत्तथा ।। 7।।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

शत्रु के अधीन राज्य होने के कारणों का निर्देश–जिसने नीति–बल का परित्याग करके अर्थात् अन्याय से अपनी प्रजा को पीड़ा पहुँचाकर धन संचय किया है उसका वह धन राज्य के साथ साथ शत्रु के अधीन हो जाता है।

त्यक्तवा नीतिबलं स्वीयप्रजापीडनतो धनम्।

सञ्चितं येन तत्तस्य सराज्यं शत्रुसाद्भवेत् ।। 8।।

देवोत्तर संपत्ति पर कर लगाकर धन न बढ़ाने का निर्देश–बिना विशेष आपत्ति पड़े प्रजा के ऊपर अधिक जुर्माना, मालगुजारी या चुंगी बढ़ाकर एवं तीर्थ स्थान तथा देवोत्तर संपत्ति पर कर लगाकर राजा को अपना कोश (खजाना) नहीं बढ़ाना चाहिए।

दण्डभूभागशुल्कानामाधिक्यात् कोशवर्धनम्।

अनापदि न कुर्वीत तीर्थदेवकरग्रहात् ।। 9।।

आपत्ति में अधिक कर बढ़ाने का निर्देश–जिस समय राजा शत्रु का विनाश करने के लिये सेना की रक्षा करने में तत्पर हो उस समय विशेष प्रकार का अधिक जुर्माना या चुंगी लगाकर प्रजा से धन का हरण करे तो उचित है।

यदा शत्रुविनाशार्थ बलसंरक्षणोद्यतः।

विशिष्टदण्डशुल्कादि धनं लोकात्तदा हरेत् ।। 10।।

आपत्तिरहित होने पर सूद सहित धन वापस करने का निर्देश–और अपने ऊपर आपत्ति आ पड़ने पर 'मैं सूद दूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर धनिकों से उसके धन को जबरदस्ती राजा को ले लेना चाहिए तथा जब वह आई हुई अपनी आपत्ति को पार कर जाय तब से लिये हुये धन को सूदसहित उस (धनिक) को लौटा देना चाहिये।

धनिकेभ्यो भृतिं दत्त्वा स्वापत्तौ तद्धनं हरेत।

राजा स्वापत्समुत्तीर्णस्तत् स्वं दद्यात् सवृद्धिकम्।। 11।।

कोश संग्रह करने का प्रमाण– बिना जुर्माना, मालगुजारी तथा चुंगी से प्राप्त धन के भी केवल राजा के कोश से ही 20 वर्ष तक सेना की रक्षा भली भांति जितने से हो सकता है उतने कोश का तथा अपनी प्रजा की रक्षा के लिये उपयुक्त संग्रह करना उचित है।

दण्डभूभागशुल्कैस्तु विना कोशाद् बलस्य च ।

संरक्षणं भवेत सम्यक् यावद्विंशतिवत्सरम्।। 13।।

तथा कोशस्तु संघायेः स्वप्रजारक्षणक्षमः।

श्रेष्ठादिनृप के लक्षण–जो माली की भांति व्यवहार रखकर अर्थात अपने बाग के वृक्षों को सीच कर जैसे माली उसकी रक्षा करता है उसी भांति प्रजा की रक्षा करने के साथ–साथ शत्रु को कर (मालगुजारी)

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

देनेवाला बनाकर उनके धनों से कोश को बढ़ाता है वह नृप श्रेष्ठ कहलाता है, जो वैश्यवृत्ति व्यवसाय आदि से कोश बढ़ाता है वह मध्यम एवं सेवा से तथा जुर्माना, तीर्थ स्थान तथा देवमन्दिरों पर कर लगाकर जो कोश बढ़ाता है, वह अधम राजा कहलाता है।

मालाकारस्य वृत्त्यैव स्वप्रजारक्षणेन च।

शत्रुं हि करदीकृत्य तद्धनैः कोशवर्धनम् ।। 18।।

करोति स नृपः श्रेष्ठो मध्यमो वैश्यवृत्तितः।

अधमः सेवया दण्डतीर्थदेवकरग्रहैः।। 19।

हीन धन तथा मध्यम धनवाली प्रजा की रक्षा वेतन देकर राजा को स्वामी की भांति करनी चाहिये। तथा अधिक धनवाली उत्तम प्रजा की रक्षा जामिनदार होकर करनी चाहिये।

प्रजा हीनधना रक्षया भृत्या मध्यधनाः सदा।

यथाधिकृत प्रतिभुवोऽधिक द्रव्यास्तथोत्तमाः।।20।।

संग्रह योग्य धान्य आदि की परीक्षा का निर्देश–अच्छी तरह से पका हुआ, उज्ज्वल, अच्छी जाति का, सूखा हुआ, नवीन, सुगन्ध, वर्ण तथा रस (स्वाद) से युक्त, सुन्दर एवं बहुत कालतक ठहरने वाला, ऐसे धान्य को अच्छी तरह से देखकर यदि अधिक मूल्य का भी हो तो लेकर रखना उचित है। यदि इससे अन्यथा हो तो उस धान्य का संग्रह नहीं करना चाहिये।

सुपुष्टं कान्तिमज्जातिश्रेष्ठं शुष्कं नवीनकम्।

ससुगन्धवर्णरसं धान्यं संवीदत्य रक्षयेत्।। 27।।

सुसमृद्धं चिरस्थायी महार्घमपि नान्यथा।

संगृहीत धन की यत्न से रक्षा करने का निर्देश– संग्रह किये हुये धान्यादि की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि इनके संग्रह करने में बहुत दुःख उठाना पड़ता है और उससे चौगुना दुःख उनकी रक्षा करने में उठाना पड़ता है।

संरक्षयेत प्रयत्नेन संगृहीतं धनादिकम्।। 32।।

अर्जने तु महद् दुःखं रक्षेण तच्चतुर्गुणम्।

राजा को परीक्षकों से स्वयं रत्न की परीक्षा कराने का निर्देश– प्रत्येक वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप जानने के लिये स्वयं सदा यत्न करना चाहिये। अतः राजा स्वयं परीक्षकों (रत्नपारखियों) के द्वारा परीक्षा करके रत्नों का संग्रह करे।

वस्तुयाथात्म्यविज्ञाने स्वयमेव यतेत् सदा।

परीक्षकैः स्वयं राजा रत्नादीन् वीक्ष्य रक्षयेत्।। 40।।

हीरा आदि नव महारत्नों का निर्देश–हीरा, मोती, मूंगा, गोमेड़ (लहसुनिया), नीलम, वैदूर्य, पुखराज, पन्ना, लाल (मानिक), ये 9 महारत्न विद्वानों द्वारा कहे गये हैं।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

वज्रं मुक्ता प्रबालं च गोमेदश्चेन्द्रनीलकः।

वैदूर्यः पुष्परागश्व पाचिर्माणिक्यमेव च ।। 81।।

महारत्नानि चैतानि नव प्रोक्तानि सूरिभिः।

नवरत्नों के वर्ण और नवग्रहों का निर्देश–वीरवहूटी कीड़े की भाँति लाल रंग का माणिक (लाल) होता है जो सूर्य को प्रिय है। लाल, पीली, श्वेत तथा श्याम वर्ण की कान्तिवाली मोती होती है जो चन्द्रमा को प्रिय है। पीली तथा लालकान्ति से युक्त उत्तम मूंगा होता है जो मंगलग्रह को प्रिय है। मयूर तथा चास पक्षी के पंखा के समान कान्तिवाला पन्ना हरा रंग का होता है जो बुधग्रह को प्रिय होता है।

रवेः प्रियं रक्तवर्णं माणिक्यं त्विन्द्रगोपरूक्।। 42।।

रक्तपीतसितश्यामच्छविर्मुक्ता प्रिया विधोः।

सपीतरक्तरूग्मौमप्रियं विद्रु ममुत्तमम्।। 43।।

मयूरचाषपत्राभा पाचिर्बुधहिता हरित्।

श्रेष्ठ रत्नों के लक्षण–'जिसके भीतर जाली न हो और वर्ण अच्छा हो एवं रेखा तथा बिन्दु से रहित, अच्छे कोणों से युक्त तथा अच्छी कान्तिवाला रत्न श्रेष्ठ होता है'–ऐसा रत्नपारखी लोग कहते हैं।

अजालगर्भं सद्वर्णं रेखाबिन्दुविवर्जितम्।

सत्कोणं संप्रभं रत्नं श्रेष्ठं रत्नविदो विदुः ।। 49।।

और वह रत्न कोई बालू और कोई पत्तों के समान कान्ति का तथा कोई चिपटा या कोई गोल आकार का होता है और रत्नों के वर्ण की कान्ति श्वेत, रक्त, पीत या कृष्ण होती है।

शर्कराभं दलाभं च चिपिटं वर्तुलं हि तत्।

वर्णाः प्रभाः सिता रक्ताः पीतकृष्णास्तु रत्नजाः।। 50।।

स्वर्णादि धातुओं के गुण–तौल में बराबर सोना पतला बनाया जाता है किन्तु अन्य धातुयें स्वर्ण के बराबर तौल में होती हुई भी मोटी ही बनती हैं, सोने के समान पतली नहीं।

मानसममपि स्वर्णं तनु स्यातु पृथुलाः परे।

जब दो धातुओं के समान दो टुकड़ों को एक छिद्र में डालकर सूत्राकार खींचकर तार बनाया जाय तो यदि धातु शुद्ध होगी तब उसका सूत्र मान में बराबर ही होगा।

एकच्छिद्रसमाकृष्टे समखण्डे द्वयोर्यदा।। 88।।

धातोः सूत्रं मानसमं निर्दुष्टस्य भवेत्तदा।

धातुओं के मूल्य का प्रमाण–यन्त्र तथा शस्त्र रूप होने पर लोहे का मूल्य अत्यधिक बढ़ जाता है। चांदी से सोलह गुना अधिक मूल्य सोने का होता है।

यन्त्र–शस्त्रास्त्ररूपं यन्महामूल्यं भवेदयः।। 89।।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

रजतं षोडशगुणं भवेत् स्वर्णस्य मूल्यकम्।

प्रायः तामे से अस्सी गुना अधिक मूल्य चांदी का होता है। वंग से डेढ़ गुना अधिक तामे का मूल्य होता है, और वंग से अन्य रांगा तथा सीसा क्रम से ताम्र से द्विगुण तथा त्रिगुण मिलते हैं और लोह छः गुने मिलते हैं। यह विशिष्ट रूप से मूल्य कहा गया है, क्योंकि पूर्व से ही मूल्य का वर्णन किया गया है।

ताम्रं रजतमूल्यं स्यात् प्रायोऽशीतिगुणं तथा ।। 90।।

ताम्राधिकं साधगुणं वंग वंगत्तथा परे।

रंगसीसे द्वित्रिगुणे ताम्रल्लोहं तु षड्गुणम्।। 91।।

मूल्यमेतद्विशिष्टं तु ह्युक्तं प्राङ्मूल्यकल्पनम्।

देश–कालानुसार सबों की मूल्य–कल्पना करने का निर्देश–जो–जो वस्तुयें संसार में अनुपम (बेजोड़) होती हैं वे सभी रत्नस्वरूप मानी जाती हैं। अतएव उन सबों का मूल्य देश तथा काल के अनुसार निश्चित करना चाहिये।

रत्नभूतं तु तत्तत्स्याद्यद्यदप्रतिमं भुवि।

यथादेशं यथाकालं मूल्यं सर्वस्य कल्पयेत्।। 102।।

शुल्क के लक्षण–बेंचने तथा खरीदने वाले से राजा जो अपना अंश लेता है उसे 'शुल्क' कहते हैं।

यिक्रेतृक्रेतृतो राजभागः शुल्कमुदाहृतम्।। 104।।

वस्तुओं के शुल्क को एक बार ही ग्रहण करने का निर्देश–शुल्क (चुंगी) लेने वाला स्थान बाजार के मार्ग (खरीदने वालों से लेने के लिये) तथा कर सीमा (चुंगी लगाने के स्थान की सीमा पर बना चुंगी घर) जहाँ पर व्यापारियों (बेचनेवालों) से चुंगी ली जाती है। समस्त वस्तुओं का प्रयत्नपूर्वक एक बार ही चुंगी लेनी चाहिये।

शुल्कदेशा हट्टमार्गाः करसीमाः प्रकीर्तिताः।

वस्तुजातस्यैकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः ।। 105।।

किसान से भाग (मालगुजारी) लेने का प्रमाण–सदा कर ग्रहण का अभिलाषी राजा प्रथम भूमि को नाप कर और उसके बहुत, मध्यम या कम पैदावार को समझ कर पश्चात् तदनुसार कर का निश्चय करे। कृषक से उतना ही कर लेवे जितने से वह नष्ट (क्षतिग्रस्त) न होवे।

बहुमध्याल्पफलितां भुवं मानमितां सदा ।। 108।।

ज्ञात्वा पूर्वं भागमिच्छुः पश्वाद्भाग विकल्पयेत्।

हरेच्च कर्षकाद्भागं यथा नष्टो भवेन्न सः।। 109।।

माली जैसे लता आदि से थोड़ा–थोड़ा फूल चुनता है उसी भाँति राजा भी थोड़ा कर लेवे किन्तु जैसे कोयला बनाने वाला संपूर्ण वृक्षों के जड़ को जलाकर कोयला बनाता है वैसा संपूर्ण कर रूप में न ले लेवे और बहुत, मध्यम तथा कम पैदावार के तारतम्य को समझ कर तदनुसार ही कर लेवे।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

मालाकार इव ग्राह्मो भागो नाङगारकारवत्।

बहुमध्याल्पफलतस्तारतम्यं विमृश्य च ।। 110।।

उत्तम कृषिकृस्य के लक्षण–राजा का कर (मालगुजारी) आदि संपूर्ण व्यय को काट कर जिस खेती से दुगुना लाभ हो, वह उत्तम खेती कहलाती है इससे कम लाभ होने पर कृषकों को दुःख देने वाली खेती हो जाती है।

राजाभागादि व्ययतो द्विगुणं लभ्यते यतः।

कृषिकृत्यं तु तच्छेष्ठं तन्न्यूनं दुःखदं नृणाम्।। 111।।

अविभाज्य धन के लक्षणः पैतृक धन की सहायता के बिना जो–जो धन जिससे उपार्जित किए जाते हैं वे सभी उस उपार्जनकर्ता के लिए यथेच्छ भोग्य होते हैं क्योंकि उस प्रकार के धन का भाई आदि के द्वारा बंटवारा नहीं किया जा सकता।

पित्रादिधनसम्बन्धहीनं यद्यदुपार्जितम्।

येन स काममश्नीयादविभाज्यं धनं हि तत्।।300।।

राजा को 32वाँ या 16वाँ लाभ पण्य में नियत करने का निर्देश–बनिया (व्यवसायी) विक्री के वस्तुओं पर जैसा प्रदेश या समय हो उसके अनुरूप उस वस्तु के लाने में किये हुये व्यय को समझ कर 32वाँ या 16वाँ भाग लाभ लेने की व्यवस्था करे, इससे अधिक लाभ न लेवे।

द्वात्रिंशांशं षोडशांशं लाभं पण्ये नियोजयेत्।। 314।।

नान्यथा तद्व्ययं ज्ञात्वा प्रदेशाद्यनुरूपतः।

व्यापारी के धन की व्यवस्था का निर्देश–'मैं वृद्धि को नहीं ग्रहण करूंगा'। ऐसा कहकर और 'वाणिज्य में लब्ध आधा धन दूंगा' इस प्रकार के स्वीकृत वचनों के द्वारा सदा वाणिज्य करावे। अथवा राजा वृद्धि मुनाफा छोड़कर मूल धन के आधे धन से सदा व्यापार करावे।

वृद्धिं हित्वा ह्मर्धधनैर्वाणिज्यं कारयेत् सदा ।। 315।।

लिखित नष्ट हो जाने पर साक्षी के आधार पर उत्तमर्ण को धन दिलाने का निर्देश–जब जिस किसी के पास किसी का लिखित ऋणपत्र (पुरनोट) नष्ट हो जाय और वह राजा को सूचित कर दे तो राजा साक्षियों के द्वारा भलीभाँति समझकर पूर्व की भांति (पुरनोट में लिखित की भाँति) ही उसे कर्जदार से द्रव्य दिला दे।

लिखितं तु यदा यस्य नष्टं तेन प्रबोधितम्।

विज्ञाय साक्षिभिः सम्यक् पूर्ववद्यापयेत्तदा।। 316।।

अर्थ के लिये अवश्य यत्न करने का निर्देश–अर्थ का दास पुरूष ही होता है न कि पुरूष का दास अर्थ होता है। अतः अर्थ के लिये सर्वदा प्रयत्नपूर्वक यत्नशील रहना चाहिये। और मनुष्यों के अर्थ से ही धर्म, काम और मोक्ष सभी पुरूषार्थ प्राप्त होते हैं।

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

अर्थस्य पुरूषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।

अतोऽर्थाय यतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः।। 39।।

अर्थाद्धर्मश्व कामश्व मोक्षश्रवापि भवेन्नृणाम्।

मूल से चौगुना सूद ले चुकने पर धनी को कुछ न देने का निर्देश–और जब मूल धन से चौगुनी वृद्धि (सूद) धनिक ने ऋण लेनेवाले से ले ली हो तब उससे अधिक धन लेने के लिये धनिक का रोक दे। अर्थात् ऋण पट गया इससे ऋण लेनेवाले धनी को कुछ न दे।

यदा चतुर्गुणा वृद्धिगृहीता धनिकेन च।। 96।।

अधमर्णान्न दातव्यं धनिने तु धनं तदा।

अपने सम्बन्धी स्त्री–पुत्रादि को सन्तुष्ट रखते हुए धनोपभोग करने का निर्देश– जो राजा अपने सम्बन्धी, स्त्री, पुत्र, मित्र, भृत्य तथा दस्युगणों को जिस प्रकार से वो सुतष्ट हो सकें वैसा प्रबन्ध करके अपने धन का उपभोग करता है, वस्तुतः वही सुखी होता है–

नृपसम्बन्धि स्त्रीपुत्र–सुहृदभृत्यादिदस्युभिः।।42।।

अतो विभागं दत्त्वैषां भुङक्ते यस्तु स्वकं धनम्।

सैनिकों के धन की आत्मवत् रक्षा करने एवं जालसाज धनिकों का धन हरण करने का निर्देश– सैनिकों के धन को अपने खजाने की भाँति यत्नपूर्वक रक्षा करे। यदि कोई धनिक जालसाजी का व्यवहार कर धन पैदा करे तो उसका संपूर्ण धन छीन ले–

धनं संरक्षयेत्तेषां यत्नतः स्वात्मकोषवत्।।95।।

संहरेद्धनिकात् सर्वं मिथ्याचाराद्धनं नृपः।

निष्कर्ष– प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्र का आर्थिक चिंतन भारतीय बौद्धिक परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। शुक्रनीति में आर्थिक विषयों का विवेचन राजकीय प्रशासन, वित्तीय प्रबंधन और दैनिक आर्थिक व्यवहार से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। भूमि–मापन, कराधान, आय–व्यय, लेखांकन, धन–संचय, मूल्य, मजदूरी, व्यापार तथा दान संबंधी उनके विचार आर्थिक जीवन के अनेक पक्षों को समाहित करते हैं। आचार्य शुक्र ने राजस्व–व्यवस्था के संचालन में भूमि के मापन, कर–निर्धारण और योग्य अधिकारियों की नियुक्ति को महत्त्व दिया। इससे स्पष्ट होता है कि वे राज्य की आर्थिक व्यवस्था को व्यवस्थित और प्रशासनिक दृष्टि से प्रभावी बनाने के पक्षधर थे। आय एवं व्यय के अभिलेखन, लिखित आदेशों तथा आर्थिक लेन–देन के दस्तावेजी प्रमाणों पर उनका बल वित्तीय अनुशासन और उत्तरदायित्व की आवश्यकता को सामने लाता है। इसी प्रकार, व्यापार और ऋण संबंधी व्यवहार में सावधानी तथा धन की सुरक्षा के प्रति उनका दृष्टिकोण आर्थिक निर्णयों में विवेक के महत्त्व को रेखांकित करता है।

श्रम और पारिश्रमिक के संबंध में कार्य की मात्रा तथा समय के आधार पर मजदूरी निर्धारित करने का उल्लेख भी उल्लेखनीय है। यह विचार श्रम के स्वरूप और पारिश्रमिक के बीच संबंध को समझने का अवसर प्रदान करता है। धन के संदर्भ में आचार्य शुक्र ने धनार्जन और संचय के साथ–साथ उसके उचित

eISSN 2583-6986
IDEALISTIC JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN PROGRESSIVE SPECTRUMS (IJARPS)
A MONTHLY, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED, INTERNATIONAL JOURNAL
Volume 05, Issue 10, October 2026 DOI- https://doi.org/10.5281/zenodo.24197449

उपयोग, विवेकपूर्ण व्यय तथा दान को भी स्थान दिया। विद्या को महत्त्वपूर्ण संपदा के रूप में प्रस्तुत करना उनके चिंतन के व्यापक स्वरूप को दर्शाता है, जिसमें आर्थिक संसाधनों के साथ ज्ञान और नैतिक मूल्यों का भी महत्त्व है। समकालीन संदर्भ में इन विचारों का अध्ययन वित्तीय पारदर्शिता, अभिलेख–रखरखाव, प्रशासनिक उत्तरदायित्व, आर्थिक निर्णयों में सावधानी और संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग जैसे विषयों पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रदान कर सकता है। तथापि, प्राचीन व्यवस्थाओं और आधुनिक आर्थिक संस्थाओं के बीच अंतर को ध्यान में रखते हुए इन विचारों की उपयोगिता का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाना चाहिए। शुक्रनीति में वर्णित व्यवस्थाओं को आधुनिक आर्थिक नीतियों के समान मानने के बजाय उन्हें उनके ऐतिहासिक और वैचारिक संदर्भ में समझना अधिक उपयुक्त होगा। आचार्य शुक्र के आर्थिक विचारों का व्यवस्थित अध्ययन भारतीय आर्थिक चिंतन की विविधता और व्यावहारिक पक्ष को उजागर करता है। उनके विचार यह समझने में सहायता करते हैं कि प्राचीन भारतीय नीति–साहित्य में आर्थिक व्यवस्था, राजकीय प्रशासन और नैतिक उत्तरदायित्व के बीच किस प्रकार संबंध स्थापित किया गया था। इस दृष्टि से आचार्य शुक्र का योगदान भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास में अध्ययन और शोध के लिए महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है।

संदर्भ सूची–

1. शुक्राचार्य, (1968), शुक्रनीतिः विद्योतिनी हिंदी टीका सहित, पं0 श्री ब्रह्मशंकर मिश्र (संपादक एवं टीकाकार), चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, संस्करणः पुनर्मुद्रण, वि.सं. 2078 (सन् 2021), चौखम्बा संस्कृत संस्थान के.37/116, गोपाल मन्दिर लेन (गोलघर समीप मैदागिन) वाराणसी–221001, भारत।

2. मिश्र, जगदीश चंद्र, (1997), शुक्रनीति, चौखम्बा, सुरभारती प्रकाशन।

3. Sarkar, B.K. (1914), The Sukranīti (with an index by Narendranath Law), The Pânini Office.

4. Gopal, L. (1962) The Śukraniti: A nineteenth century text, Bulletin of the School of Oriental and African Studies, 25(3), 524–556.

5. Śukra- (2005). The Śukranītiḥ: Original Sanskrit with translation into English (K. Lāla, Ed; B.K. Sarkar Translated), J. P. Publishing House.